उस्ताद अब्दुल करीम खां : केंद्रीय धुरी

अशोक दामोदर रानडे

(मूल प्रसिद्धी - छायानट, अंक ४३, संपा. केशवचंद्र वर्मा, अक्तूबर-दिसंबर १९८७)

{उस्ताद अब्दुल करीम खां का जन्म कैराना गाँव (जिला सहारनपुर, उ. प्र.) में हुआ। उन्होंने शुरुवाती तालीम अपने पिता काले खां और चाचा अब्दुल्ला खां से प्राप्त की। सन १८९० के पहले दशक में बड़ौदा के राजदरबार में में प्रथम उनकी नियुक्ति हुई। इसके बाद बम्बई, मीरज और हुबली उनके निवास स्थान बने। उस्ताद अब्दुल करीम खां ने आर्य संगीत समाज की स्थापना १९१३ में पुणे में की और १९१७ में बम्बई में उसकी शाखा शुरू की। साथ ही सर्वश्री क्लेमेन्ट्स और देवल के साथ भारतीय श्रुति विज्ञान पर किये गये संशोधन में सहकार्य भी किया। उन्हें दक्षिण भारत में लोकमान्यताप्राप्त हिन्दुस्तानी संगीतकारों में से एक होने का दर्जा भी प्राप्त था। सन १९२० में बम्बई की आर्य संगीत समाज की शाखा बन्द करने के बाद मीरज में देहगमन तक निवास किया। आज भी उनके असंख्य चाहनेवाले और शिष्य मौजूद हैं।}

सन १९३० से पूर्व के भारतीय संगीतकारों का आज यदि मूल्यांकन करना हो तो कुछ समस्याएं उपस्थित होती हैं, जिनमें मुख्य है उन कलाकारों की महफिलों के संदर्भ में व्यक्तिगत अनुभवों का न होना। फिर भी, जिन संगीतकारों का ध्वनिमुद्रण उपलब्ध है, उनके विषय में यह कमी कुछ अंश तक दूर की जा सकती है। उस्ताद अब्दुल करीम खां की गायी चौंतीस रचनाएं आज उपलब्ध हैं। यह ध्वनि-मुद्रित संगीत रचनाएं उनकी कला का पर्याप्त प्रतिनिधित्व भी करती हैं। उनकी संगीताभिव्यक्ति की मुख्य तथा गौण, दोनों श्रेणियां इनमें शामिल हैं। ध्वनि मुद्रित रचनाओं का ब्यौरा इस प्रकार है : खयाल - १४ रचनाएं (६ बड़े, ७ छोटे खयाल), ठुमरियां - ८, नाट्यगीत - ६, मराठी पद - २, तराने - २, कर्नाटकी रचनाएं – २। तात्पर्य यह कि ध्वनि मुद्रित संगीत के यह नमूने विश्लेषण के लिए पर्याप्त हैं। उस्ताद का प्रभाव आज भी उनके शिष्य और चाहनेवालों के जरिए इतना है कि उनके संगीत के विश्लेषण के बिना हिन्दुस्तानी कला संगीत का परीक्षण अधूरा माना जाएगा।

इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर विभिन्न संगीत प्रकारों की चर्चा करने पर हम पाते हैं कि उस्ताद खयाल, ठुमरी और नाट्यपद खूब जमकर, रुचिपूर्वक गाते थे। इन तीनों संगीत प्रकारों की चर्चा पृथक् रूप से भी हो सकती है, किन्तु उस्ताद के गायन में कुछ समान लक्षण दिखाई देते हैं। इसलिए विशिष्ट संगीत प्रकारों में उनकी कला का विचार करने से पहले इन समान लक्षणों का उल्लेख करना अधिक उचित होगा।

संगीत का कोई भी प्रकार हो, उस्ताद के गायन में एक उल्लेखनीय लक्षण दिखाई देता है, और वह है आवाज़ का उनका लगाव, जिसमें एक विशिष्ट स्वन (tone) होता है। यह स्वन पतला, कोंचदार, किंचित अनुनासिक और कभी-कभी ज़रा पोला (hollow) है। इसके अलावा उनकी आवाज़ में हमेशा एक चढ़े आधार स्वर का उपयोग भी सुनाई देता है। तकनीकी दृष्टि से, उनकी आवाज़ का वर्गीकरण 'upper register voice' में करना होगा। स्वरग्राम के ऊपरी भाग में जो चमकदार ऊर्ध्व स्वन होते हैं, उस्ताद की आवाज़ में यह प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। किन्तु ऐसी आवाज़ में lower register का यदि अनुरूप सहयोग न हो तो इस आवाज़ के स्वरग्राम के निचले भाग में कमजोर पड़ जाने का धोखा रहता है। उस्ताद की आवाज़ में lower register का अभाव था। आवाज़ के इस आंशिक विकास के सांगीतिक परिणाम अनिवार्य थे। यही वजह है कि उनकी बहुत सारी बंदिशों की बढ़त स्वरग्राम के ऊपरी हिस्से में ज्यादा प्रभावशाली लगती है। इस सम्बन्ध में भैरवी (यमुना के तीर), जोगिया (पिया के मिलन की आस), और तिलंग (काहे को नैना लगाये) उल्लेखनीय हैं। जोगिया और भैरवी की बंदिशों की सम भी तार षड्ज पर पड़ती है। इसी दिशा में एक कदम आगे

बढ़कर हम यह भी कह सकते हैं कि उस्ताद के गायन की प्रभावशाली जगहें अधिकतर तार स्वरों में पाई जाती हैं। परन्तु इसका यह मतलब कतई नहीं है कि स्वरग्राम के बाकी हिस्सों में उस्ताद बेसुरे थे। मतलब सिर्फ यह है कि स्वरग्राम के ऊपरी हिस्सों में उस्ताद जो परिणाम साध लेते थे, वह बाकी हिस्सों में पाना, उनकी आवाज के लगाव के कारण असम्भव था। परिणाम साधने की यही कमी द्रुत गति की तानों में भी सुनाई देती है। मात्र एक अपवाद मध्य गांधार स्वर के आसपास के क्षेत्र में दिखाई देता है। स्वरग्राम के निचले पल्ले में होने पर भी उस्ताद के गायन में यह स्वर और उसके विस्तार प्रभावशाली होते थे। इस सम्बन्ध में मेरा एक अनुमान है। सभी जानते हैं कि तानपुरे का आखरी तार एक गांधार उत्पन्न करता है, जिसे भारतीय संगीत शास्त्र में 'स्वयंभू गांधार' कहते हैं। तानपुरे के कौन-से गुण-धर्म इसके पीछे कार्यरत हैं, यह अभी तक किसीने ठीक से जांचा नहीं है। फिर भी इसका अस्तित्व भारतीय संगीत-प्रयोग की परंपरा का एक माना हुआ सत्य है। यहां मेरा तात्पर्य है कि खां साहब की अनुनासिक और upper register आवाज़ में जो ऊर्ध्व स्वर पैदा होते थे, उसको स्वयंभू गांधार से पुष्टि मिलती थी। फलस्वरूप इस गांधार के आसपास गाते हुए उस्ताद एक विशेष परिणाम की निर्मिति करते थे।

आवाज़ के लगाव में स्वन की जो समानता उस्ताद ने बरकरार रखी थी, और उसमें एक घटक और भी था। उन्होंने संयुक्त स्वरध्वनि 'औ' का अपने गायन में भरपूर उपयोग किया। जो उन्हें गायन में आस रखने के लिए भी बड़ा सहायक रहा। भारतीय संगीत एकल संगीत है और स्वर संहति (melody) पर निर्भर है। इसलिए हमारे यहाँ स्वर की आस का बहुत महत्त्व माना गया है। गायन-वादन के प्रवाह में अवरोध न हो इसलिए यह नियम है कि आस रहनी चाहिए। वैज्ञानिक दृष्टि से अगर देखा जाए तो हम पाते हैं कि सारी स्वर ध्वनियों में 'औ' में सबसे अधिक सहकंपन होता है। अपवाद सिर्फ तार स्वरांतरों का है, जहाँ सभी स्वर ध्वनियाँ एक जैसी हो जाती हैं। उस्ताद के गायन में दो युक्तियों का आयोजन मिलता है। एक, सभी जगह एक-सा स्वन रखना, और दूसरा, संयुक्त और सहकंपित स्वर ध्वनि को कायम रखना। इन्हीं विशेष कारणों से उनके गायन में स्थायित्व और आवाहकता प्रचुर मात्रा में महसूस होती है।

इस सूत्र का विलंबित लय के गायन में तथा तार श्रेणी में अच्छा उपयोग हुआ। इसके अलावा बंदिश के शब्दों में व्यंजन की जो कड़ी रेखाएं थीं, उनको भी आवाज के लगाव से उन्होंने अस्पष्ट कर दिया, और यूं सभी शब्दों को एक गोलाई प्राप्त हुई। इस क्रिया द्वारा सभी शब्दों को एकाकार करने से उन शब्दों की विशिष्ट नादाकृति लुप्त हो गई। यह शोचनीय था, क्योंकि इससे, चाहे मराठी नाट्यगीत हो, चाहे बिलावल की बंदिश, या ठुमरी, सारी रचनाओं के शब्द आवाहन लिए हुए तो थे, पर उनमें कोई भेद बाकी नहीं रह जाता था।

एक बात और। किराना घराने के अन्य कलाकारों की गायन तकनीक का यदि परीक्षण किया जाए तो इस युक्तिवाद को बल ही मिलता है। उस्ताद के पुरुष शिष्यों में, स्वर्गीय सवाई गंधर्व और स्वर्गीय बेहरे बुआ के गायन में उस्ताद की गायन तकनीक का ही अवलंबन सुनाई देता था। यानी, संयुक्त स्वरध्वनि का आरोपण, upper register का विपुल उपयोग, और आवाज़ के लगाव का एक जैसा स्वन (tone)। परन्तु रोशनआरा बेगम या पंडित भीमसेन जोशी (जो पंडित सवाई गंधर्व के शागिर्द हैं) के गायन का आकर्षण उस्ताद के गायन से भिन्न है। इसका कारण है कि यह दोनों कलाकार दो registers से आवाज़ लगाते हैं, और दो से अधिक स्वरध्वनियों की योजना करते हैं। ऐसा करना उनके लिए आवश्यक भी है। क्योंकि एक स्वरध्वनि से द्रुत गति तान लेना असम्भव है। इसीलिए अपने गायन में उन्होंने एक जैसा स्वर नहीं रखा। प्रयोगधर्मी कला में जिस कलाकार को अपनी स्वयं की बात कहनी होती है, उसे अपना तर्कशास्त्र रचना पड़ता है, जिसे प्रयोगधर्मी तर्कशास्त्र कहते हैं। और यही कारण है कि एक ही गुरु के दो शिष्य अपनी-अपनी अलग शैलियाँ बना सकते हैं।

उस्ताद के गायन का एक और पहलू है : वे बोल आलाप पर अधिक निर्भर करते थे, और उसी प्रमाण में 'आ'कार युक्त संगीत विस्तार कम करते थे। कारण यह था कि स्वर की अखंडता में उनका बहुत विश्वास था। पहले जिस सांगीतिक अखंडता का हमने जिक्र किया है वह स्वरध्वनि की लगातार योजना, विशेष रूप से 'आ'कार को लगाने से, प्राप्त नहीं हो सकती थी। इसका सरल कारण है, और वह यह, कि स्वर-ध्वनि में व्यंजन की अपेक्षा अधिक सांस लगती है। विशेष तकनीकी व्याख्या न करके भी समझा जा सकता है कि स्वरध्वनि में अखंड, बाहर जाने वाली सांस ही ध्वनि का उत्पादन करती है। इसके विपरीत, मुख की खोह में दो प्रकार का वैविध्य होता है, स्वरात्मक और लयात्मक। सार्वत्रिक अनुभव यह है कि लयात्मक वैविध्य का बोध जल्दी होता है। भिन्न संस्कृति के सांगीतिक आविष्कार सुनते समय इसकी प्रतीति होती है। किसी भी अपरिचित संस्कृति के लयाविष्कार हमें जितनी आसानी से प्रभावित करते हैं, उतना प्रभाव स्वरात्मक अंगों का नहीं होता। इसीलिए हम कह सकते हैं कि ताल को कम महत्त्व देकर खां साहब ने इस भूमिका को अंतःस्फूर्ति से अपनाया होगा, परन्तु इस चुनाव के परिणाम मूलगामी और सौन्दर्यशास्त्रीय हैं, और इसी धरातल पर उनकी चर्चा भी होनी चाहिए।

अन्त में यह भी कहना होगा कि उनका संगीत विद्वत्ता प्रचुर नहीं था! शायद इस विधान का स्पष्टीकरण देना आवश्यक है। यहां दो संज्ञाओं में स्पष्ट रूप से भेद करना आवश्यक है : विद्वत्ताप्रचुरता और विद्वज्जड़ता। जो विद्वज्जड़ है वह शुष्क और पांडित्यपूर्ण सांगीतिक परंपरा से लिपटा हुआ है। इसकी तुलना में विद्वत्ताप्रचुर दृष्टिकोण विद्वत्-परम्परा को सकारात्मक मान्यता या सम्मान देकर उसे आगे बढ़ाता है। विद्वत्ताप्रचुर दृष्टिकोण की यह मान्यता है कि विद्वत्त परंपरा से संगीत के प्रयोगधर्मी अंगों को स्थैर्य प्राप्त होता है और नये प्रयोग करके मार्गान्तर करनेवालों को इससे एक आधार मिलता है। विस्तृत परिप्रेक्ष्य के कारण विद्वत्ताप्रचुर कलाकार संगीत में निहित सौन्दर्यात्मक विरोधाभासों को शक्तिरूप मानता है, इसलिए वह परंपरा का पालन और नई खोज, स्थिरता और गतिशीलता और अंत में सृजनात्मकता और कौशल्य, इन सभी में संतुलन साध लेता है। ऐसे संगीतकार रागों की व्याकरणिक प्रतिभा और रागों से सूचित होने वाले मार्गांतरित आविष्कार, दोनों को सामने रखते हैं। खां साहब के गायन में इस प्रकार का दृष्टिकोण नहीं था। उनके आविष्कारों में व्याकरण की रेखाएं अस्पष्ट हो जाती थीं। उदाहरणार्थ, उनका गाया हुआ सरपरदा, बहुत से गायकों को मान्य नहीं होगा। उनके गाये बसन्त के आलाप और उनके द्वारा गाई उसी राग की तानें मेल नहीं खातीं। इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्हें राग का मर्म और राग से होने वाले मार्गान्तर का ज्ञान नहीं था। अर्थ सिर्फ इतना है कि उन्होंने साहस किया था संगीत में भाव की एक फैली हुई छाया के रखने का। राग की सर्वांग प्रतिमा से ज्यादा, अलग-अलग स्वरों की। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उनके सांगीतिक तर्क में सांगीतिक स्वन की प्रभावशाली शक्ति को अग्रक्रम था। व्याकरणिक शुद्धता और उससे हटकर उपलब्ध होने वाले मार्गांतरित आविष्कारों पर ध्यान देना उनके लिए गौण था। अभी हाल में उनके शिष्यों का जो पत्र-व्यवहार प्रकाशित हुआ है, उसमें भी राग खंबावती का रूप क्या हो, इन प्रश्न द्वारा शिष्यों को रियाज़ और प्रभाव पर ध्यान देने का उनका आग्रह साफ झलकता है। वैसे इस प्रकार सोचना उन दिनों एक आम बात थी। उन दिनों के बहुसंख्य कलाकार प्रभावशाली प्रयोग को औपपत्तिक अन्तरदृष्टि से ज्यादा मानते थे। वैसे यह दृष्टिकोण न्याय्य नहीं समझा जा सकता। संगीत में 'इस' या 'उस' का महत्त्व देना सांगीतिक वास्तव का बचकाना आकलन है। व्याकरणिक शुद्धता को विद्वज्जड़ता के बराबर मानना और संगीत के ज्ञान को संगीत के प्रयोग से अलग रखना उचित नहीं। ख़ैर,। खां साहब के युग में इस प्रकार के मत अधिक मान्य थे, इसलिए उन्हें विशेष दोष देना उचित नहीं।

खाँ साहब के संगीत के इस सर्वसाधारण विवेचन के बाद, वे संगीत प्रकार, जो खाँ साहब विशेष रुचि से गाते थे, उनका तकनीकी विश्लेषण करना उचित होगा। वह प्रकार हैं - खयाल और ठुमरी।

सरासरी तौर पर सुनने के पश्चात भी समझ में आता है कि उनके गाये हुए खयाल या ठुमरी में विशेष अंतर नहीं था। इसका एक कारण यह है कि दोनों संगीत प्रकारों की बंदिशें गाने में उन्होंने एक ही भावात्मक स्वर को उपयोग में लिया था। इसका विवेचन पहले हो चुका है, और इसके परिणाम पूर्व-सूचनीय थे।

संगीत-प्रकारों को अलग रखने का एक तरीका यह है कि उनके भावात्मक आवाहन को अलग रखा जाए। एक सर्वसाधारण विधान यह हो सकता है कि भारतीय संगीत में जिन प्रकारों को classical माना जाता है, उनमें ऐन्द्रियता, भावात्मकता कम होती है, वे कुछ 'ठंडे' होते हैं। जिस प्रकार चित्र में छाया और प्रकाश की व्यामिश्र आकृति होती है उसी तरह की रचना प्रस्तुत करने का हेतु classical संगीत में उभरता है। ठुमरी और खयाल दोनों में एक ही प्रकार के स्वर लगाने से उनकी आवाहकता एक-सी हो गई। उनके स्वरूप एक-से हो गये। संगीत शास्त्र की दृष्टि से यह निषिद्ध था, और सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से यह साहस था। किंतु निर्णय लेने की जिम्मेदारी खाँ साहब की थी और उन्होंने निःसंदिग्धता से निर्णय लिया था।

इन-संगीत प्रकारों को अलग रखने का एक तरीका और भी था। विशिष्ट रागों की संरचना की आकार रेखाओं पर कड़ी नजर रखने से राग की आकृति कम धूमिल होगी। हर राग की एक पकड़ होती है। इसके अलावा हर राग में कई स्वर संगतियां भी होती हैं। इन दोनों पर जोर देने से हर राग का विशिष्टत्व मन पर अपनी पकड़ जमा लेता है। भारत में classical और non-classical संगीत परंपरा में भेद करने के लिए रागों का विशिष्टीकरण बड़ी महत्त्व की प्रक्रिया है। खां साहब की व्यापक सांगीतिक नीति के कारण उनका संगीत स्वन के बदलाव तथा राग के विशिष्टीकरण, दोनों बातों से वंचित था। इसी वजह से उनके गाये खयाल और ठुमरी दोनों के सांगीतिक परिणाम एक जैसे थे।

इनके अतिरिक्त ठुमरी के बोल भी खाँ साहब ने अर्थ को ध्यान में रखकर नहीं प्रयुक्त किये। खयाल गायक की तुलना में ठुमरी गायक ठुमरी की भावना (जो उनके शब्दों द्वारा व्यक्त होती है) को जेहन में रखकर संगीत-विस्तार करता है! ठुमरी की भी बहुत सारी शैलियां हैं। मगर शब्द और शब्द की भावना पर जोर देने में सभी शैलियों का एक मत है। जैसा कि सभी जानते हैं, ठुमरी के शब्द संगीत के प्रवाह में रचित, पुनर्रचित और वितरित होने से एक तरह की ठुमरी सिद्ध होती है। इस प्रकार की ठुमरी में बोल बांटे जाते हैं। दूसरे प्रकार की ठुमरी में शब्दों के भावात्मक आवाहन को स्वर और अभिनय का साज चढ़ाया जाता है। इस तरह की ठुमरी में बोल बनाए जाते हैं। कभी-कभी ठुमरी का विस्तार करते समय गायक बीच-बीच में शेर भी गाते हैं। तात्पर्य यह, कि शब्द और उसके अर्थ को महत्त्व देने के अनेक मार्ग ठुमरी अपनाती है। यह भी हम मानते हैं कि केवल शब्द को सशक्त करने से निर्माण होनेवाला एक प्रकार का परावलंबन दूर करने के लिए ठुमरी गायक दुगुन, लग्गी और अंत में तानों का भी उपयोग करते हैं।

यह सारे लक्षण खाँ साहब के गाने में नजर नहीं आते थे। उनकी जगह खां साहब ने स्वन को दे रखी थी जो समान रूप से सभी को आच्छादित करता था। इस कारण शब्द की आकृतियां और प्रस्तुतीकरण की आकृति रेखाएँ अस्पष्ट हो गई। वैसे जब खाँ साहब युवा थे तभी ठुमरी, संगीत के एक प्रकार के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। इस पृष्ठभूमि पर सर्वमान्य सांगीतिक रूढ़ियों को खां साहब ने यूं परे क्यों रखा यह स्पष्ट करना चाहिए। खाँ साहब को विद्वत्-परंपरा मान्य नहीं थी, कहीं इसका कारण यह तो नहीं था?

और भी एक बात संभव है। हो सकता है, खां साहब ने यह अस्पष्टता संगीत में आधुनिकता लाने के लिए इस्तेमाल की हो। सभी कलाओं के विद्यार्थी जानते हैं कि कला-प्रकारों को एकत्र करना या उनका समादेशकता का वेग बढ़ाना आधुनिकता का एक प्रधान लक्षण है। २०वीं शताब्दी के हिन्दुस्तानी संगीत में इस तरह का कदम उठाने का श्रेय उस्ताद अब्दुल करीम खाँ को दिया जा सकता है। संगीत प्रकारों की पारंपरिक सोपान परंपरा की विधिसम्मति को शिरोधार्य न मानकर, उनकी भेद-रेखाओं को अस्पष्ट करने में

उनका योगदान रहा, क्योंकि उनकी धारणा थी कि संगीत प्रकार केवल संगीत-संदेश के वाहक हैं। और उनके संगीत में संदेश केवल एक था। शायद इसीलिए उन्होंने खयाल और ठुमरी को एकाकार कर दिया।

इस अस्पष्टता का अंजाम एक और सतह पर भी दिखाई देता है। रागों के भेदों को नजर अन्दाज करने की उनकी नीति कैसी थी, इसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। हर राग की भावात्मक या आवाहक अस्मिता के विषय में उन्होंने ऐसा ही रुख अपनाया। राग की गति के विषय में उनके मत पर भी यहाँ विचार होना चाहिए। राग की गति कैसे सिद्ध होती है? गरिमा के भेद और राग में निहित स्वर समूहों को सघन या विरल करने पर, राग की गति निर्भर करती है। राग के हर स्वर को समान महत्त्व देने से राग को गतिशील नहीं रखा जा सकता। किंतु खां साहब को हर स्वर को मधुर रखना था। अगर कोई कवि अपनी रचना के हर शब्द को काव्यात्मक रखने का आग्रह रखे तो जो होता है, वही उस्ताद के गाने में भी हुआ। उस्ताद का गाना एक-रंग रहा। बिलावल, शंकरा, वसंत या जोगिया, सभी राग उनके लिए एक-से हो गये। राग और रस के संबंध में किसी की कुछ भी धारणा हो, परंतु राग शंकरा से राग जोगिया या राग बसंत अलग ही होता है। इस बात पर तो कोई आपत्ति नहीं करेगा। इन सभी रागों को भैरवी के समान समझने से जिस संगीत का निर्माण होगा, वह संगीत उस्ताद का संगीत था। उनके गाने में एक गहरी आर्तता सभी जगह पाई जाती थी। यह अपरिहार्य था।

उस्ताद अब्दुल करीम खाँ साहब के सांगीतिक व्यक्तित्व का एक पहलू बताए बिना उनका योगदान निर्णायक रूप से समझा नहीं जा सकता। दाक्षिणात्य संगीत के प्रति उनकी प्रतिक्रिया लक्षणीय थी। उनके समकालीन संगीतकारों की तुलना में उस्ताद की दृष्टि कर्नाटक संगीत के प्रति अधिक सकारात्मक और मूलभूत थी। कर्नाटकी रागों को हिन्दुस्तानी राग समूह में आयात करना, उनमें हिन्दुस्तानी रचनाएँ करना, और इस तरह कर्नाटकी रागों को हिन्दुस्तानी बनाना आसान है। किंतु उस्ताद का यत्न भिन्न था। उन्होंने कर्नाटकी स्वरबंधों को हिन्दुस्तानी राग विस्तार में जगह दी (सरगम)। किंतु कर्नाटकी गमकों को उन्होंने दूर रखा। इस तरह नई आकृतियों को लाना, किसी भी कला को समृद्ध ही करता है। कर्नाटक पद्धति के आवाज़ के लगाव को दूर रखने से आकृतिबंध सहजता से घुलमिल गये। तथापि उनका नावीन्य छिपा नहीं रह सका। यह एक तरह का प्रतिरोपण हुआ। निष्कर्ष यह, कि उनके द्वारा लाई आकृतियाँ, सर्जनशील ढाँचे बन गई और सभी रागों में उनका उपयोग संभव हुआ। Aldous Huxley जिसे dissociation कहता है, उसका उदाहरण खां साहब की कर्नाटक अंग की सरगमों में मिलता है।

उस्ताद non-conformist थे। उनकी सांगीतिक उपलब्धियाँ दो प्रकार की थीं। एक, उस युग में जो शुष्क (किंतु व्याकरण शुद्ध) खयाल गायकी थी, उसको उन्होंने चुनौती दी। जब उनके तत्कालीन हिन्दस्तानी ख़याल को एक पद्धति में बिठाने में लगे थे, तब उस्ताद ने आवाहन की भूमिका पर जोर दिया। शायद दूसरे संगीतकार भी संगीत में अभ्यर्थना लाने को मना न करते, तो भी पारंपरिक रवैया बदलने का साहस कम लोगों में था। दूसरी बात यह, कि ठुमरी गायन में खां साहब ने एक अर्थपूर्ण मार्गान्तर किया। भावात्मक रंग लाने के लिए शब्दों को पकड़कर बैठ जाना उन्हें मंजूर नहीं था। शब्दार्थ को आधारभूत मानकर भी उन्होंने अपने संगीत में एक भावनिर्भर स्वन अवश्य रखा। ठुमरी के मान्य परिमाण उनके गाने से बदल गये। वे ठुमरी गायन में भावात्मक अवश्य हुए, किंतु भावुक नहीं। वे मधुर अवश्य थे, परंतु अघा देने की हद तक नहीं। यह कोई छोटी-मोटी उपलब्धि नहीं थी ।